दुनिया में 30 करोड़ नौजवान ग़रीबी रेखा के नीचे : विश्व पूँजीवाद हमें यही दे सकता है!

● कपिल

समाचारपत्रों के बिज़नेस वाले पेज से लेकर सम्पादकीय पृष्ठों तक छपने वाले लेखों में आजकल विश्वव्यापी विकास की शानदार तस्वीर प्रस्तुत की जा रही है। लेकिन पिछले दिनों आयी विश्व श्रम संगठन की रिपोर्ट ने ही इस विकास के ढोल की पोल खोल दी। रिपोर्ट में सामने आये तथ्यों ने जहाँ एक ओर पूँजीवादी व्यवस्था में हो रहे खोखले विकास की हवा निकाल दी है वहीं इनसे आने वाले समय में संकट के गहराते जाने के संकेत भी मिलते हैं।

रिपोर्ट पिछले दस वर्षों (1995-2005) के दौरान युवाओं में बढ़ती जा रही बेरोज़गारी के बारे में है। इसमें दिये गये आँकड़े आँख खोल देने वाले हैं। मसलन, यह रिपोर्ट बताती है कि युवाओं में बेरोज़गारी 14.8 प्रतिशत की द्रुत गति से बढ़ती जा रही है। और आज पूरी दुनिया में 30 करोड़ नौजवान ग़रीबी रेखा से नीचे जीवन जी रहे हैं। बेरोज़गारी की यह भयावह तस्वीर विकासशील देशों के सामने सबसे साफ़ तौर पर दिखलाई दे रही है। काम कर रहे युवाओं में से भी 56 प्रतिशत ग़रीबी की मार झेल रहे हैं और आशंका जतायी गयी है कि इन्हें भी भविष्य में काम के घण्टे बढ़ाने, कम वेतन, न्यनतम प्रशिक्षण, बिना किसी सामाजिक सुरक्षा या नाममात्र की सामाजिक सुरक्षा के साथ अस्थायी या अनौपचारिक ठेकों पर काम करने के लिए मजबूर किया जा सकता है।

रिपोर्ट पूरी ईमानदारी से विश्व पूँजीवाद को सुझाव देती और चेताती है कि सावधान हो जाओ! शुरुआती वक्त में अच्छा काम न मिल पाने पर युवाओं का बेहतर भविष्य का सपना ज़िन्दगी भर के लिए धूल में मिल सकता है। यह भी बताया गया है कि अब मुद्दा रोज़गार संतुष्टि का नहीं बल्कि रोज़गार सुरक्षा का है। सबसे बड़ा संकट यह है कि उच्च शिक्षा के बावजूद बेहतर रोज़गार अब एक सपना बनता जा रहा है।

यह रिपोर्ट विश्वव्यापी चहुँमुखी विकास के झूठे दावों की हक़ीकत बयान कर देती है। अब यह एक दीगर बात है कि ऐसा वह विश्व पूँजीवाद को थोड़ा सुधर जाने का सुझाव देने के लिए करती है। लेकिन इस प्रक्रिया में वह सभी यथास्थितिवादी बौद्धिकों और अर्थशास्त्रियों के विकास की दावों की पोल खोल देती है और साथ ही उन सुधारवादियों का भी पर्दाफाश कर देती है जो 'एक दूसरी दुनिया सम्भव है' का नारा लगाते हुए इसी दुनिया में पैबन्दसाज़ी का काम कर रहे हैं।

1999-2005 के दौरान रोज़गार की स्थिति

15-24 वर्ष की आबादी	प्रतिशत	संख्या (करोड़)
1. बेरोज़गारी वृद्धि दर	*14.8*	-
2. युवा आबादी की वृद्धि दर	*13.2*	-
3. रोज़गार के अवसरों में वृद्धि	*3.8*	-
4. कुल कार्यशील जनसंख्या में युवाओं का प्रतिशत	*25*	-
5. युवाओं में बेरोज़गारी का प्रतिशत	*44*	-
6. वर्तमान बेरोज़गारी	-	*8.50*
7. गरीबी रेखा के नीचे युवा आबादी	-	*30*
8. वर्तमान युवा शक्ति का उपयोग करने के लिए रोज़गार की आवश्यकता	-	*40*

इस रिपोर्ट के साथ अगर हमारे देश में बेरोज़गारी की स्थिति पर निगाह डालें तो मामला ज़्यादा साफ़ हो जाता है। हमारे देश में बेरोज़गारों की संख्या एक अनुमान के अनुसार 30 करोड़ के करीब है। इसमें वे लोग भी शामिल हैं जो अपनी योग्यता या डिग्री की बजाय कोई छोटा-मोटा काम करके गुज़र कर रहे हैं। नौजवानों की बहुत बड़ी संख्या तो महँगी होती शिक्षा के कारण कैम्पसों तक भी नहीं पहुँच पा रही है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि गाँवों में रोज़गार न मिल पाने के कारण युवाओं की बड़ी आबादी शहरों की तरफ़ आ रही है। बेरोज़गारी की बढ़ती समस्या ने सरकार को भी कुछ कवायद करने पर मजबूर कर दिया है, हालाँकि कवायद से कुछ होता नहीं है, बस कुछ समय के लिए भ्रम का परदा खड़ा हो जाता है।

मिसाल के तौर पर, रोज़गार गारण्टी योजना के साथ भी यही हुआ। इसे अपनी एक उपलब्धि बताते हुए वर्तमान यूपीए सरकार ने लागू किया था। लेकिन यह योजना बहुत दिन तक भ्रम का परदा भी नहीं खड़ा कर सकती। इस योजना के तहत बेरोज़गारों को साल के 365 दिनों में से 100 दिन रोज़गार देने की बात की है। इसका क्या तुक बनता है, यह तो महान अर्थशास्त्री मनमोहन सिंह और उनकी चारण मण्डली ही बता सकती है! अगर मान भी लिया जाय कि 100 दिन रोज़गार मिलता है, जो अभी तक आ रहे आँकड़ों से असम्भव साबित हो चुका है, तो भी बाकी के 265 दिन आदमी क्या करेगा? भजन-कीर्तन? लेकिन भूखे तो भजन भी नहीं होता! कुल मिलाकर यह सरकार द्वारा देश के बेरोज़गारों के गुस्से

के ज्वालामुखी को फूटने से रोकने के लिए दिया जाने वाला एक झुनझुना है जो लगभग फुस्स हो चुका है।

वास्तविकता यह है कि इस तरह के धूम्रावरण खड़े करके पूँजीवादी व्यवस्था के कुरूप चेहरे को छिपाया जा रहा है। एक तरफ़ गगनचुम्बी इमारतें, चमचमाते मॉल और जगमगाती सड़कें हैं तो दूसरी तरफ़ देश के युवाओं का अंधकारमय भविष्य! एक तरफ़ नये-नये उद्योग लगने, रोज़गार सृजन के बड़े-बड़े दावे हैं तो दूसरी ओर रोज़गार के सीमित अवसरों को पाने के लिए दिन-ब-दिन महँगी होती जा रही उच्च शिक्षा है। हालाँकि जिनको उच्च शिक्षा नसीब होती है, उन सबको रोज़गार नहीं मिल जाता।

इसकी वजह भी बहुत स्पष्ट है। दरअसल अब विश्व पूँजीवाद के सामने बेरोज़गारों की बढ़ती फौज को रोकने का कोई रास्ता नहीं बचा है। पूँजीवाद के अन्तर्गत एक अन्तकारी बीमारी के तौर पर मन्दी आती है। मन्दी की वजह होती है गैरयोजनाबद्ध अर्थव्यवस्था के कारण होने वाला अतिउत्पादन। जिस सेक्टर या उद्योग में मुनाफ़ा ज़्यादा होता है, सारी पूँजी उस ओर प्रवाहित होती है। नतीजतन, उस सेक्टर में प्रतिस्पर्द्धा बढ़ती है, अतिउत्पादन होता है, बाज़ार उस माल से पट जाते हैं, दुकानों में 'सेल' के बोर्ड लटक जाते हैं, ख़रीदने का ख़रीदार नहीं होता, मुनाफ़े की दर गिरने लगती है, उत्पादन को रोकना पड़ता है या कम करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में अपने निजी लाभ के लिए मरा जा रहा पूँजीपति अपने मज़दूरों को तनख्वाहें नहीं देना चाहता और फिर होती है छँटनी और बढ़ती है बेरोज़गारी। इस दुर्व्यवस्था को पूँजीवाद रोक ही नहीं सकता। क्योंकि इस व्यवस्था में निजी स्वामित्व और मुनाफ़ा हर काम की प्रेरक शक्ति होते हैं। हर निजी पूँजीपति अपने मुनाफ़े के लिए निवेश करता है। ऐसा तो होता नहीं कि सारे पूँजीपति मिलकर बैठें और यह तय करें कि समाज की ज़रूरत किन-किन वस्तुओं की है और फिर यह तय कर लें कि कौन क्या पैदा करेगा! यहाँ तो सब के सब एक दूसरे के मांस को ही उबालकर खा जाने की फ़िराक में रहते हैं! किसी भी तरह एक-दूसरे से आगे निकल जाने की होड़ में रहते हैं। और इस हवस के तहत होने वाला उत्पादन नियोजित नहीं हो सकता; मुनाफ़े के लिए होने वाला उत्पादन अतिउत्पादन और फिर मन्दी की तरफ़ ले जाता है, जो पलटकर बेरोज़गारी, छँटनी और तालाबन्दी को जन्म देता है। इसलिए तमाम बौद्धिक भले ही पूँजीवाद और पूँजीपतियों को संयम और सामाजिक कल्याण करने की हिदायत देते रहें, उससे कोई फ़र्क नहीं पड़ने वाला। क्योंकि पूँजीपति पूँजी पर नहीं बल्कि पूँजी पूँजीपति पर सवार होती है। अगर पूँजीपति अपने तत्काल मुनाफ़े के लिए काम न करे तो बाज़ार के जंगलराज में कोई और किसी सुबह शेयर मार्केट खुलने के साथ ही उसका नाश्ता बनाकर खा जाएगा! इसलिए यह पूँजीवाद का असाध्य संकट है। कोई अमर्त्य सेन, जोसेफ़ स्टिग्लिट्ज़, या मेघनाद देसाई इसे नहीं रोक सकते। ऐसा कोई नुस्खा ही नहीं है जो इस बीमारी का इलाज कर सके।

चूँकि पूँजीवाद के अन्तर्गत सारा काम मुनाफ़े के लिए किया जाता है इसलिए सभी समाजोपयोगी कार्यों को रामभरोसे छोड़ दिया जाता है। दूसरी ओर, पूँजीपति यह कभी नहीं चाहेंगे कि सभी को रोज़गार मिले। क्योंकि अगर सभी को रोज़गार मिल गया तो पूँजीपति की मोलभाव क्षमता शून्य होगी और मज़दूरों की मोलभाव क्षमता अनन्त। पूँजीवाद को रोज़गारशुदा मज़दूरों को निकाल देने का भय दिखाकर मज़दूरी कम करने और उसे निचोड़ने के लिए हमेशा बेरोज़गारों की एक रिज़र्व आर्मी चाहिए होती है। हाँ, यही रिज़र्व आर्मी ज़रूरत से ज़्यादा बड़ी हो जाती है तो पूँजीवाद के लिए ख़तरा पैदा हो जाता है और ऐसा होने से पूँजीवाद रोक भी नहीं सकता। दूसरी तरफ़, पूँजीपति एक दूसरे से होड़ में लागत कम करने के लिए उन्नत तकनोलॉजी लगाते हैं और मज़दूरों की छँटनी करके नियमित तौर पर होने वाले व्यय को कम करने के प्रयास में लगे रहते हैं और अपनी विशेषज्ञता स्थापित करके, उसे एक 'ट्रेड सीक्रेट' के रूप में इस्तेमाल करके दूसरे पूँजीपति को निगल जाने की फिराक में रहते हैं। इससे भी बेरोज़गारी लगातार बढ़ती है। इसे भी पूँजीवादी व्यवस्था के दूरदर्शी पहरेदार देख तो सकते हैं लेकिन रोक नहीं सकते।

पूँजीवादी विकास के अन्तरविरोधों और विरोधाभासों को अब स्वयं पूँजीवादी अर्थशास्त्री और वित्तमंत्री तक मानने लगे हैं। वे स्वीकार कर रहे हैं कि यह है तो विकास ही लेकिन 'रोज़गार विहीन विकास'। इस विकास में विकास की सारी मलाई धनपशु चाटते हैं और मेहनतक़शों और आम नौजवान के हाथ सिर्फ़ सिफ़र आता है।

लेकिन युवा पीढ़ी इन स्थितियों को चुपचाप झेलते जाने के लिए तैयार नहीं है। एक साल पहले फ्रांस में अश्वेतों और बेरोज़गार नौजवानों ने नौकरी समेत तमाम मामलों में बरते जा रहे भेदभाव के ख़िलाफ़ सड़कों पर उतरकर गुस्सा जाहिर किया। उसके बाद फ्रांस में ही शिराक और विलोपाँ द्वारा किये जा रहे रोज़गार कानून संशोधन को आन्दोलन चलाकर छात्रों-नौजवानों और मज़दूरों ने वापस लेने पर मजबूर कर दिया। विश्व के अलग-अलग हिस्सों में युवाओं और मेहनतक़शों के विरोध-प्रदर्शन उग होते जा रहे हैं। हमारे यहाँ वैसा कोई संगठित प्रतिरोध अभी तक नहीं हुआ है लेकिन युवाओं में सुलग रहे गुस्से को तमाम लक्षणों से सहज ही महसूस किया जा सकता है।

बेरोज़गारी का संकट आज आम घरों के युवाओं के सामने मुँह बाए खड़ा है। उससे भी बड़ी और महत्वपूर्ण समझने वाली बात यह है कि यह पूँजीवादी व्यवस्था और सरकारें उसे दूर नहीं कर सकतीं। तब यह सोचने की ज़रूरत है कि आख़िर रास्ता क्या है? और शहीदेआज़म भगतसिंह के जन्मशताब्दी वर्ष से अधिक उपयुक्त अवसर इस काम के लिए कोई और नहीं हो सकता है कि इस व्यवस्था के कारगर विकल्प के बारे में सोचा जाये।

भगत सिंह ने कहा...

...अलग-अलग संगठन और खाने-पीने का भेदभाव हर हालत में मिटाना ज़रूरी है। छूत-अछूत शब्दों को जड़ से निकालना होगा।

जब तक हम अपनी तंगदिली छोड़कर एक न होंगे, तब तक हममें वास्तविक एकता नहीं हो सकती। इसलिए ऊपर लिखी बातों के अनुसार चलकर ही हम आज़ादी की ओर बढ़ सकते हैं। हमारी आज़ादी का अर्थ केवल अंग्रेजी चंगुल से छुटकारा पाने का नाम नहीं। वह पूर्ण स्वतंत्रता का नाम है जब लोग परस्पर घुलमिलकर रहेंगे और दिमागी गुलामी से आज़ाद हो जाएंगे।

('धर्म और हमारा स्वतंत्रता संग्राम' लेख से)